विश्व आर्थिक संकट : वर्तमान स्थिति

शासक वर्गों की दबाऊ–छिपाऊ भाषा में विश्व अर्थव्यवस्था की गंभीर हालत का जो सबसे अच्छा चित्रण किया जाता है वह संयुक्त राष्ट्र संघ की **2011** के लिए 'विश्व अर्थव्यवस्था और सामाजिक स्थिति की संभावनाएं' रिपोर्ट में प्रस्तुत किया गया है। इस रिपोर्ट की शुरुआत इस तरह होती है:

> एक साल के भंगुर और असमान सुधार के बाद वैश्विक अर्थिक वृद्वि **2010** के मध्य से व्यापक रूप में धीमी पड़नी शुरू हो गई। **2011** और **2012** में इस धीमी पड़ती रफ्तार के जारी रहने के आसार हैं क्योंकि बड़ी विकसित अर्थव्यस्थाओं में कमजोरी वैश्विक सुधार को पीछे खींचना जारी रखे हुए है तथा यह आगे आने वाले वर्षों में वैश्विक आर्थिक स्थिरता के लिए खतरा पैदा करती है। संकट के शुरुआती दौर में सरकारों द्वारा अभूतपूर्व नीतियां अख्तियार करने के चलते उन्होंने निस्संदेह वित्त बाजार को स्थिरता प्रदान करने तथा सुधार को चालू रखने में भूमिका निभाई। लेकिन **2010** में नीतिगत सहारा धीमा पड़ गया और इसके निकट भविष्य में और कम सहायक होने के आसार हैं, खासकर इसलिए कि बढ़ते वित्तीय घाटे और सार्वजनिक ट्टण के चलते वित्तीय उत्प्रेरक के पक्ष में समर्थन कमजोर हो गया है। कई सरकारें, खासकर विकसित देशों की सरकारें, पहले ही वित्तीय कम खर्चे की ओर जा चुकी हैं। यह **2011** और **2012** में वैश्विक वृद्वि को नकारात्मक तौर पर प्रभावित करेगा। (**World Economic and Social Prospects 2011,UNO,P-iii, Internet PDF** संस्करण)

2007 में शुरू हुआ वर्तमान आर्थिक संकट जब **2008** के मध्य में गहराने लगा तो दुनिया भर के पूंजीपतियों ने पहले तो इसकी गंभीरता को नकारने का प्रयास किया और फिर यह जताने का प्रयास किया कि जल्दी ही इस संकट से मुक्ति मिल जायेगी। उनके होश तब फाख्ता हो गये जब **2008** के सितंबर–अक्टूबर में दुनिया भर की वित्तीय व्यवस्था के विध्वंस का खतरा पैदा हो गया। और तब एक बारगी महामंदी की डरावनी शकल उन्हें घूरने लगी। **2008** के अंत और **2009** की शुरुआत में तेजी से गिरती वृद्वि दर ने सबसे ज्यादा खामख्याली में जीने वाले पूंजीपतियों को भी महामंदी की घूरती आंखों में देखने को मजबूर कर दिया।

लेकिन **2008** का वैश्विक पूंजीवाद **1929** का पूंजीवाद नहीं था। तब के बरक्स इस बार दुनिया भर की पूंजीवादी सरकारों ने पहले तो हजारों अरब डालर ध्वस्त होते वित्तीय बाजार को थामने के लिए झोंके और फिर अर्थव्यवस्थाओं में गति प्रदान करने के लिए हजारों अरब डालर। पूंजीवादी सरकारों के इन अभूतपूर्व कदमों से लड़खड़ाता वित्तीय बाजार थम गया और अर्थव्यस्थाओं में गिरावट रुक गयी। यही नहीं, **2009** के उत्तरार्ध से उल्टी गति का आभास होने लगा जब वित्तीय संस्थान एक बार फिर मुनाफा कमाने लगे और अर्थव्यवस्थाओं में उभार के कुछ आंकड़े आने लगे।

2008.09 की तीखी गिरावट के कारण, जो द्वितीय विश्व युद्व के बाद सबसे तेज थी, कुछ लोगों ने इसे **1929** की महामंदी (ग्रेट डिप्रेशन) की तर्ज पर ग्रेट रिसेशन कहना शुरू कर दिया। धीमे–धीमे यह शब्द चलन में आ गया। लेकिन **2010** की शुरुआत से ही अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बैंक तथा इजारेदार पूंजी के अन्य भोंपूओं ने शोर मचाना शुरू किया कि संकट से बाहर आने की शुरुआत हो गई है, कि जल्दी संकट बीते दिन की बात हो जायेगी। सुनहरे दिन एक बार फिर लौट आयेंगे। और यह सब उन्होंने दक्षिण यूरापीय देशों के ट्टण संकट के भयावह रूप से मुखर हो जाने के बाद भी किया।

जैसा कि संयुक्त राष्ट्र संघ की रिपोर्ट का उपरोक्त उद्वरण दिखाता है, सच्चाई यह नहीं है। विश्व अर्थव्यवस्था अभी भी गंभीर संकट में है और यह इस कदर है कि कुछ लोग **2011** के अंत में गंभीर विस्फोट की बात कर रहे हैं।

इस लेख में हम वैश्विक अर्थव्यवस्था की वर्तमान हालात का जायजा लेंगे इसके मूलभूत अंतर्विरोधों की रोशनी में इसकी संभावित गति को चिर्ति करेंगे। इसमें प्रस्तुत ज्यादातर आंकड़े संयुक्त राष्ट्र संघ, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और यूरोपीय समुदाय द्वारा जारी किये गये हैं।

I अर्थव्यवस्थाओं की वास्तविक तस्वीर

संयुक्त राष्ट्र संघ की **2011** की रिपोर्ट के अनुसार सारी दुनिया के विभिन्न समूहों की आर्थिक विकास दर इस प्रकार रही है या होने की संभावना है।

तालिका–1

वार्षिक प्रतिशत परिवर्तन

समूह	2007	2008	2009	2010	2011	2010
विकसित अर्थव्यवस्थाएं	2.5	0.1	-3.5	2.3	1.9	2.3
यूरोपीय संघ	2.9	0.5	-4.2	1.8	1.6	2
संक्रमणशील अर्थव्यस्थाएं	8.6	5.2	-6.7	3.8	4	4.2
विकासशील देश	7.6	5.4	2.4	7.1	6	6.1

स्त्रोत : वही, तालिका A1,A2,A3

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष भी विकसित अर्थव्यवस्थाओं के लिए इन वर्षों के लिए यह विकास दर प्रस्तुत करता है : ,प्रतिशत। दोनों ही रिपोर्ट में कोई बहुत ज्यादा फर्क नहीं है हालांकि मुद्रा कोष अपनी आदत के मुताबिक थोड़ा सा ज्यादा वृद्वि दर प्रदर्शित करता है।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष सभी आंकड़ों के लिए क्रय शक्ति समतुल्यता (**PPP**) पद्वति का इस्तेमाल करता है। इनका इस्तेमाल करते हुए वह कहता है कि वैश्विक अर्थव्यवस्था के लिए **2007** से लेकर **2012** तक वृद्वि दर के आंकड़े क्रमशः इस प्रकार होंगे : **-**प्रतिशत। यदि क्रय शक्ति समतुल्यता के बदले सामान्य बाजार दर का इस्तेमाल किया जाय तो ये आंकड़े इस प्रकार होंगे 3.9,1.6,–2.1,3.9,3.5,3.7 प्रतिशत। (**World Economic out look, April-2011, IMF,** तालिका **।1**)

इन आंकड़ों से ऊपरी तौर पर लगता है कि **2010** से स्थिति लगभग सामान्य हो गई है। हालांकि **2011** व **2012** में थोड़ा ढीलापन आयेगा लेकिन तब भी चिंता की कोई बात नहीं है।

लेकिन जैसा कि कहा जाता है, शैतान तो ब्यौरों में छिपा होता है। संयुक्त राष्ट्र की रिपोर्ट के अनुसार यूरोपीय संघ में **2011** में वृद्वि दर महज **1.6** प्रतिशत होगी और सारे ही विकसित देशों में कुल 1.9 प्रतिशत। और विकसित देश अभी भी विश्व अर्थव्यवस्था का दो तिहाई हिस्सा बनते हैं।

आंकड़ों के और ब्यौरों में जायं तथा कुछ बड़ी अर्थव्यवस्थाओं तथा कुछ ज्यादा संकटग्रस्त देशों को देखें।

तालिका–2

G -7 में वृद्वि दर (प्रतिशत)

देश	2007	2008	2009	2010	2011	2012
स.रा.अमेरिका	1.9	0.0	-2.8	2.6	2.2	2.8
कनाडा	2.2	0.5	-2.5	2.9	2.5	3.1
जापान	2.4	-1.2	-5.2	2.7	1.1	1.4
फ्रांस	2.4	0.2	-2.6	1.6	1.2	1.3
जर्मनी	2.7	1.0	-4.7	3.4	2.2	2.4
इटली	1.5	-1.3	-5.0	1.3	1.1	1.2
यू.के.	2.7	-0.1	-5.0	1.8	2.1	2.6

स्त्रोत : वही तालिका A-1

यह तालिका दिखाती है कि जापान में न केवल **2009** में **5.2** प्रतिशत की तीखी गिरावट आई बल्कि **2011** और **2012** में उसके लगभग नगण्य विकास दर से वृद्वि करने के आसार हैं। अब हाल की सुनामी की तबाही के बाद तो वृद्वि दर का ट्टणात्मक होना लगभग तय है।

इसी तरह इटली की हालत भी एकदम खस्ता है तथा ंस भी लगभग उसी के आस–पास है। इटली में तो आने वाले कई वर्षों में पिछली गिरावट की भरपाई नहीं हो पायेगी।

लेकिन विकसित अर्थव्यवस्थाओं के संकट का सबसे घातक बिन्दु कहीं और है। ये हैं वे अर्थव्यवस्थाएं जो इस संकट में तबाह हो गईं और उनमें से कुछ विस्फोट का नया केन्द्र बनी हुयी हैं :

तालिका–3

कुछ ज्यादा संकटग्रस्त देशों में वृद्वि दर

देश	2007	2008	2009	2010	2011	2012
ग्रीस	4.5	2.0	-2	-4.8	-3.6	0.1
आयरलैंड	5.6	-3.5	-7.6	-1	-0.9	1.5
पुर्तगाल	2.4	0.0	-2.6	0.8	-0.9	0.2
स्पेन	3.6	0.9	-3.7	-0.7	0.4	1.0
इस्टोनिया	6.9	-5.1	-13.9	1.5	3.0	3.0
हंगरी	1.0	0.6	-6.3	0.8	2.5	2.5
लाटविया	10.0	-4.2	-18	-0.8	3	3.8
लिथवानिया	9.8	2.9	-14.7	-0.6	2.7	3.5
आइसलैंड	6.0	1.0	-6.8	-3.4	0.5	0.5

स्त्रोत : वही तालिका A-1

तालिका से स्पष्ट है कि बाल्टिक देश और आइसलैण्ड इस संकट से तबाह हो गये। वहां अर्थव्यवस्था में गिरावट **10** से **20** प्रतिशत तक जा पहुंची। इन देशों में यह तबाही सीधे–सीधे साम्राज्यवादी वित्तीय संस्थानों ने ढाई।

ग्रीस, आयरलैण्ड, पुर्तगाल और स्पेन यूरोप के वे देश हैं जहां इस समय साम्राज्यवादी दुनिया में संकट सबसे ज्यादा तीखा है और न केवल इन देशों की सरकारों के दीवालिया होने का खतरा है बल्कि फलस्वरूप साम्राज्यवादी वित्तीय तंत्र के भी ध्वस्त होने का खतरा है।

जैसा कि पहले कहा गया है **2008** में संकट के गहराने पर सभी पूंजीवादी सरकारों ने बड़े पैमाने पर पैसा झोंक कर ध्वस्त होते वित्तीय संस्थानों को बचाया तथा अर्थव्यवस्थाओं में तीखी गिरावट को रोका। लेकिन इसका यह परिणाम हुआ कि ध्वस्त होते वित्तीय संस्थानों और निगमों का संकट सरकारों को स्थानांतरित हो गया। ढेरों लड़खड़ाते निजी संस्थान बच गये लेकिन सरकारें कर्जे से लद गईं। सरकारों का बजट घाटा और कर्ज सभी सीमाओं को पार कर गया। और अब सरकारों के दीवालिया होने का खतरा पैदा हो गया। ग्रीस और आयरलैण्ड की सरकारों को यूरापीय संघ तथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से कर्ज देकर बचाया गया तो पुर्तगाल के मामले में यह प्रक्रिया जारी है। स्पेन इसके बाद लाइन में है और उसी के साथ कयामत का दिन एक बार फिर पास आता दिखेगा।

सरकारों के वित्तीय घाटे और कर्जे की तस्वीर ये तालिकाएं दिखाती हैं:

तालिका–4				
सरकारों का घाटा (सकल घरूलू उत्पाद का प्रतिशत)				
देश/समूह	2007	2008	2009	2010
स.रा.अमेरिका	-2.7	-6.5	-12.7	-10.6
जापान	-2.4	-4.2	-10.3	-9.5
कनाडा	1.6	0.1	-5.5	-4.6
यूरो क्षेत्र	-0.7	-2.0	-6.3	-6.0
यूरोपी क्षेत्र	-0.9	-2.4	-6.8	-6.4
बेल्जियम	-0.3	-1.3	-5.9	-4.1
जर्मनी	0.3	0.1	-3.0	-3.3
आयरलैंड	0.1	-7.3	-14.3	-32.4
ग्रीस	-6.4	-9.8	-15.4	-10.5
स्पेन	1.9	-4.2	-11.1	-9.2
फ्रांस	-2.7	-3.3	-7.5	-7.0
इटली	-1.5	-2.7	-5.4	-4.6
पुर्तगाल	-3.1	-3.5	-10.1	-9.1
स्त्रोतः 1 IME World Econpomic Out lok तालिका A-8, 2. Euro stat news release 60/k2011 dated 26 Apr 2011				

तालिका–5				
सरकारों पर कर्ज (सकल घरेलू उत्पाद का प्रतिशत)				
देश/समूह	2007	2008	2009	2010
स.रा.अमेरिका	62.2	71.2	84.6	91.6
जापान	187.7	195	216.3	220.3
कनाडा	66.5	71.3	83.4	84.2
यूरो क्षेत्र	66.2	69.9	79.3	85.1
यूरोपीय क्षेत्र	59.0	62.3	74.4	80.0
बेल्जियम	84.2	89.6	96.2	96.8
जर्मनी	64.9	66.3	73.5	83.2
आयरलैंड	25.0	44.4	65.6	96.2
ग्रीस	105.4	110.7	127.1	142.8
स्पेन	36.1	39.8	53.3	60.1
फ्रांस	63.9	67.7	78.3	81.7
इटली	103.6	106.3	116.1	119.0
पुर्तगाल	68.3	71.6	83.0	93.0
स्त्रोत : वही				

यहां यह गौरतलब है कि **2007** से **2010** के बीच यूरोपीय संघ में सरकारों का खर्च सकल घरेलू उत्पाद के **45ण्6** प्रतिशत से बढ़कर **50.3** प्रतिशत हो गया सरकारों की आय **44.8** प्रतिशत से घटकर **44.0** प्रतिशत रह गई। इसी वजह से सरकारों का वित्तीय घाटा **. 0ण्9** से बढ़कर **6.4** प्रतिशत तक पहुंच गया।

2007 से **2010** के संकट के पूरे दौर में सरकारों ने जनता के लिए राहत कार्यों में कटौती की है। इसका सीधा सा मतलब है कि सरकारों के वित्तीय घाटे और बढ़ते कर्जे की वजह पूंजीपति वर्ग पर लुटाई गई दौलत है। सरकारों ने सकल घरेलू उत्पाद का करीब **20** से **30** प्रतिशत पूंजीपतियों पर लुटाया है।

इस संकट के शुरू होने के पहले तक वित्तीय घाटा कम से कम रखना सरकारों का मूल मंत्र था। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से लेकर यूरोपीय संघ सब इसे दोहराते थे। यूरोपीय संघ की सदस्यता की तो शर्त ही यही थी कि वित्तीय घाटा सकल घरेलू उत्पाद के **3ण्0** प्रतिशत से ज्यादा नहीं होना चाहिए। इसका केवल एक मतलब था– जनता के राहत मदों में कटौती। जैसा कि तालिका**–4** का **2007** का कालम दिखाता है सभी देशों की सरकारें इसका धार्मिक भाव से पालन कर रही थीं।

लेकिन **2008** में आर्थिक संकट के गहराते ही इसे छोड़ दिया गया। पूंजीपतियों को बचाने के लिए सरकारों ने अपने खजाने खोल दिये। इसके फलस्वरूप उनका वित्तीय घाटा **2010** तक **10** से **30** प्रतिशत तक जा पहुंचा। इसी अनुपात में कर्जों में वृद्वि भी हुयी। सरकारें कर्जों से लद गईं।

मजे की बात है कि सरकारी खजाने से जिन्दगी पाने वाले वित्तीय बाजार ने सभलते ही उलटा खेल खेलना शुरू कर दिया। वित्तीय बाजार ने उन सरकारों को निशाना बनाना शुरू कर दिया जिनकी हालत ज्यादा खस्ता थी। बाल्टिक देशों और आइसलैण्ड के बाद अब दक्षिणी यूरोप के देश इसके निशाने पर हैं। इन्होंने ग्रीस और आयरलैण्ड की सरकार को घुटने टेकने पर मजबूर कर दिया है, पुर्तगाल सरकार घुटने टेक रही है तथा स्पेन और इटली अगले निशाने हैं।

लेकिन दक्षिण यूरोप के देश अलग–थलग नहीं हैं। इनकी सरकारों का संकट असल में दूसरे देशों का भी संकट है। ग्रीस के सरकारी कर्ज में सबसे बड़ा हिस्सा फ्रांस और जर्मनी का है। इसीलिए ग्रीस के दीवालिया होने का मतलब इन देशों का खतरे में पड़ना है। आयरलैण्ड अपने देश के चार बैंकों को बचाते–बचाते यहां पहुंच गया है लेकिन उसके दीवालिया होने पर चार बैंक ही नहीं, अन्य देशों के बैंक और सरकारें भी खतरे में पड़ जायेंगी।

यूरोप के अति संकट ग्रस्त देशों में से केवल ग्रीस के बारे में कहा जा सकता है कि उसकी हालत संकट शुरू होने से पहले से खराब थी। लेकिन बाकियों का यह हाल सीधे–सीधे इस संकट की देन है। वस्तुतः सबसे ज्यादा संकटग्रस्त आयरलैण्ड को पूंजीवादी प्रचारक केल्टिक टाइगर कह रहे थे ठीक उसी तरह जैसे ये बाल्टिक के अब तबाह देशों को तब बाल्टिक टाइगर कर रहे थे। अब यह नियम सा बन गया है कि जिन भी देशों को साम्राज्यवादी टाइगर कहकर मॉडल के तौर पर प्रचारित करेंगे वे निश्चित तौर पर आगे आने

वाले संकट में तबाह हो जायेंगे। इसकी शुरूआत दक्षिण पूर्व एशिया के एशियाई टाइगरों से हुयी है। असल में यह वित्तीय सट्टेबाज पूंजी की कार्रवाइयों का सबसे मुखर उत्पाद है।

तालिका **4** व **5** से स्पष्ट है कि **2008** से गहराया संकट खत्म नहीं हुआ है बल्कि वह निजी संस्थानों से सरकारों को स्थानांतरित हो गया है। **2009** के उत्तरार्ध और **2010** का सुधार महज सरकारी वित्तीय घाटे और कर्ज का तात्कालिक परिणाम है। बड़े बैंकों और वित्तीय संस्थानों की खराब परिसम्पत्तियां अभी भी बनी हुयी हैं। बाजार से मांग अब भी गायब है। वृद्वि में एक हिस्सा इंवेन्टरी का है जो अनंत काल तक नहीं बढ़ाया जा सकता। और सरकारें अब और ज्यादा बोझ नहीं उठा सकती। वे उल्टी दिशा में चल चुकी हैं। ऐसे में वैश्विक अर्थव्यवस्था के किस बेहतर भविष्य की कल्पना की जा सकती है?

वैश्विक अर्थव्यवस्था की गंभीर हालत का बयान एक और कोण से भी होता है और मजदूर वर्ग के दृष्टिकोण से बहुत बहुत महत्वपूर्ण है। जैसा कि लैटिन अमेरिका के एक वित्त मंत्री ने कहा था, अर्थव्यवस्था बेहतर काम कर सकती है लेकिन इससे कोई जरूरी नहीं कि जनता भी बेहतरी महसूस करे। असल में तो उदारीकरण के पूरे दौर में यही होता रहा है।

इस समय भी अर्थव्यवस्था में उभार के कुछ आंकड़े मजदूर वर्ग की भयानक स्थिति को कुछ ढंक देते हैं। यही नहीं, ऐसा करके वे अर्थव्यवस्था की वास्तविक गति पर भी परदा डाल देते हैं। वे अर्थव्यवस्था में वृद्वि की मूल वजहों को और उसकी वास्तविक स्थिति को आंखों से ओझल कर देते हैं। कुछ महत्वपूर्ण देशों में बेरोजगारी की स्थिति इस प्रकार है :

तालिका–6

बेरोजगारी की दर (प्रतिशत)

देश/समुह	2007	2008	2009	2010	2011	2012
विकसित देश	5.7	6.1	8.4	8.7	8.6	8.2
यूरोपीय संघ	7.2	7.0	8.9	9.6	9.4	9.2
स.रा. अमेरिका	4.6	5.8	9.3	9.6	9.3	8.7
कनाडा	6.0	6.1	8.3	8.1	8.0	7.6
जपान	3.9	4.0	5.1	5.0	5.0	4.8
फ्रांस	8.4	7.8	9.5	9.8	9.6	9.3
जर्मनी	8.4	7.3	7.5	6.9	6.5	6.0
ग्रीस	8.3	7.7	9.5	12.0	13.7	13.7
आयरलैंड	4.6	6.3	11.9	13.8	12.9	12.3
इटली	6.1	6.7	7.8	8.5	9.3	10.0
पुर्तगाल	8.1	7.7	9.6	10.8	11.7	12.1
स्पेन	8.3	11.3	18.0	20.2	19.9	19.2
यू.के.	5.3	5.6	7.6	7.8	8.0	7.8

स्त्रोत : वही तालिका A-7

ये आंकड़े अपनी कहानी आप कहते हैं। अर्थव्यवस्था में **2010** में सुधार के बावजूद रोजगार के मामले में कोई सुधार नहीं दीखता। यहां स्थिति भयावह बनी हुयी है। सबसे ज्यादा बुरी स्थिति नौजवानों की है जिनमें बेरोजगारी की दर उपरोक्त से दो–तीन गुना ज्यादा है।

यहां यह रेखांकित करना होगा कि बेरोजगारी के ये सरकारी आंकड़े हैं। वास्तविक बेरोजगारी हमेशा ही इससे बहुत ज्यादा रही है। मसलन संयुक्तराज्य अमेरिका में इस समय वास्तविक बेरोजगारी की दर **9** प्रतिशत के बदले **22** प्रतिशत बतायी जा रही है। इसे ध्यान में रखने पर स्थिति और भी ज्यादा गंभीर हो जाती है।

II पुराने और नये खतरे

समूची अर्थव्यवस्था से संबंधित विभिन्न तरह के आंकड़ों को देखने के बाद अब हम अर्थव्यवस्थाओं में निहित समस्याओं पर नजर डालें। जिन तात्कालिक समस्याओं ने **2008** में गंभीर संकट को जन्म दिया था उनकी क्या स्थिति है?

2007 में संकट की शुरुआत के समय तीन–चार चीजें प्रमुख थीं। अर्थव्यवस्था में वास्तविक मांग की अनुपस्थिति में उधार की पद्वति के द्वारा कृत्रिम मांग पैदा की गई थी। यह व्यक्तिगत, निजी संस्थानों और सरकार तीनों स्तर पर थीं। इसी कारण अमेरिका में संकट के शुरू होने के समय कुल ट्टण सकल घरेलू उत्पाद का साढ़े तीन गुना हो गया था। मकान की चढ़ती कीमतों पर खड़ा पूरा ताश का महल तथा वित्तीय संस्थानों की लीवरेजिंग इसमें प्रमुख थीं। इन सबने वित्तीय संस्थानों के पास जहरीली परिसम्पत्तियों का ढ़ेर लगा दिया था।

2007 में ताश का महल ढहने के बाद अमेरिका में (साथ ही यूरोप के कुछ देशों में भी) मकान की कीमतों का गिरना जारी है। कीमतों में तीस प्रतिशत की गिरावट के बाद भी अभी उसका अन्त नजर नहीं आ रहा है। पहले के मुकाबले मकान बहुत कम बिक रहे हैं और बैंकों के पास ऐसे मकानों का अंबार लगा है जिसे वे अगले दस साल में ही बेच पायेंगे। इसके बावजूद बड़ी संख्या में नये मकान उनके पास आते जा रहे हैं (किश्तें न चुका पाने के कारण)।

यहां यह याद रखना होगा कि **2003** से **2007** के बीच मकानों की तेजी ने होम इक्विटी के जरिये अन्य मालों के लिए उपभोक्ता क्रय शक्ति को भी जन्म दिया था। इस क्षेत्र में गिरावट से वह क्रय शक्ति बाजार से गायब हो गयी। इस क्रय शक्ति का स्थान लेने के लिए अभी कोई और चीज नहीं है। यही नहीं, बड़े पैमाने की बेरोजगारी और सरकार की खर्च कम करने की नीति ने बाजार में क्रय शक्ति और कम कर दी है। ऐसे में मालों का खप पाना और मुश्किल हो गया है। वस्तुतः **2009** के उत्तरार्ध और **2010** में उत्पादन में जो तेजी दिखी उसका एक बड़ा हिस्सा इंवेन्टरी का है। अमेरिका में **2011** की पहली तिमाही में जो **1.8** प्रतिशत वृद्वि दिखी उसमें से यदि इंवेन्टरी और आटो क्षेत्र को निकाल दिया जाय तो कुछ नहीं बचता। सरकार ने आटो क्षेत्र को पिछले समय विशेष सहायता दी थी।

मकान कीमतों में गिरावट, बेरोजगारी तथा मजदूरी में कटौती के चलते यह सहज ही समझा जा सकता है कि न केवल क्रय शक्ति बढ़ नहीं सकती बल्कि उधार के जरिये इसे बढ़ाने की ज्यादा संभावना नहीं है। ज्यादातर लोग पहले ही ट्टणों के बोझ से दबे हुए हैं। क्रेडिट कार्ड के आंकड़े भी दिखाते हैं कि नये कर्जे लेकर उन्हें चुका पाने की स्थिति बहुत सीमित है।

भीमकाय वित्तीय संस्थानों की स्थिति भी नाजुक बनी हुयी है इसके बावजूद कि उन्होंने **2009** व **2010** में खूब मुनाफा दिखाया है और उसके बड़े अधिकारी पहले की तरह ही ऐश कर रहे हैं। इन बड़े मुनाफे की दो वजहें हैं। एक तो सरकारों द्वारा इन्हें दिया गया अकूत धन। दूसरा कुछ मामलों में गिरती हालत पर सट्टेबाजी। बड़े सट्टेबाजों ने यदि बाजार की चढ़ती पर मुनाफा कमाया था तो उसकी गिरावट पर भी। लेकिन इससे उनकी शोचनीय स्थिति बेहतर नहीं हो जाती। बैंकों के खातों में अभी भी **2** हजार अरब डालर से ज्यादा की खराब परिसम्पत्तियां मौजूद हैं जिन्हें ठिकाने लगाना है। इसके अलावा कई देशों की सरकारों का दिवालियापन उनकी आंखों में घूर रहा है। इनके दीवालिया होने पर उनके द्वारा जारी प्रतिभूतियां इन बैंकों के लिए फांसी के फन्दे की तरह हो जायंगी। इन्हीं सब के कारण बड़े पैमाने का मुनाफा दिखाने और अधिकारियों द्वारा बड़ी–बड़ी राशियां तनख्वाहों और बोनस के रूप में हड़पने के बावजूद इन बैंकों द्वारा उधार बहुत कम दिया जा रहा है। सरकारें बहुत कम दरों पर इन्हें ट्टण उपलब्ध करा रही हैं लेकिन वे उधार देने से घबरा रहे हैं।

और यहीं से इन अर्थव्यवस्थाओं में नये खतरे पैदा हो रहे हैं। पिछले खतरो की विरासत अभी पूरी मौजूद है लेकिन तब भी उनके ऊपर नयों की शुरुआत की जा चुकी है। आज का इजारेदार पूंजीवाद करे भी तो क्या?

यह अब एक आम बात हो गई है कि डाट काम बूम के ध्वस्त होने के बाद **2001–2002** की मंदी से निपटने के लिए अमेरिका ने अपनी ब्याज दरें बहुत नीची कर दी जिसने वहां एक नये वित्तीय बुलबुले को पैदा किया और जिसका अंतिम परिणाम **2008** का गंभीर संकट था। लेकिन अब स्थिति क्या है? जरा इस तालिका को देखिये।

तालिका – 7

छोटी अवधि की ब्याज दर (प्रतिशत)

देश/समूह	2001	2002	2003	2004	2005	2006	2007	2008	2009	2010
कनाडा	4.0	2.6	3.0	2.3	2.8	4.2	4.6	3.3	0.7	0.6
फ्रांस	4.3	3.3	2.3	2.1	2.2	3.1	4.3	4.6	1.2	0.7
जर्मनी	4.3	3.3	2.3	2.1	2.2	3.1	4.3	4.6	1.2	0.7
इटली	4.3	3.3	2.3	2.1	2.2	3.1	4.3	4.6	1.2	0.7
जापान	0.1	0.1	0.0	0.0	0.0	0.2	0.7	0.7	0.3	0.2
यू.के.	5.0	4.0	3.7	4.6	4.7	4.8	6.0	5.5	1.2	0.7
यू.एस.ए.	3.7	1.7	1.2	1.6	3.5	5.2	5.3	3.0	0.6	0.3

स्त्रोत : वही, तालिका A-12

टिप्पणीः छोटी अवधि की ब्याज दर बैंकों के बीच तीन महीने की दर है। लम्बी अवधि की ब्याज दर यानी सरकारों के लम्बी अवधि के बांडों पर ब्याज दर भी **2001** व **2002** के औसतन **5** प्रतिशत के मुकाबले **2009** व **2010** में औसतन **3** प्रतिशत के करीब है।

यहां यह गौरतलब है कि **2009** व **2010** में छोटी अवधि के ट्टणों पर ब्याज दर **2002** व **2003** से भी बहुत नीचे है। **2010** में तो वे लगभग शून्य के आस–पास रही हैं। क्या यह एक नये बुलबुले की जानबूझकर शुरुआत नहीं है? अमेरिका में **2002.04** में जिस निम्न ब्याज दर ने बुलबुले को जन्म दिया था उससे भी बहुत नीचे वहां ब्याज दर रखी जा रही है। और अभी से उसके परिणाम आने भी लगे हैं।

तालिका से स्पष्ट दीखता है कि जापान में ब्याज दर दशक भर से लगभग शून्य के आस–पास बनी हुयी है। इसने जापानी अर्थव्यवस्था के गंभीर ठहराव को तो नहीं तोड़ा (उसकी **2002** से **2010** तक वृद्वि दर इस प्रकार रही -0.5, 0.3, 1.4, 2.7, 1.9, 2.0, 2.4, -1.2, -5.2 व 2.7 प्रतिशत) उलटे उसने वित्तीय सट्टेबाजी के लिए बड़े पैमाने के कैरी ट्रेड को जरूर जन्म दिया। इसमें सट्टेबाज जापान में सस्ती दर पर ट्टण लेकर किसी और देश में निवेश करते थे जहां ब्याज दरें ऊंची थीं।

इस समय भी यही हो रहा है। बहुत कम ब्याज दर से यह नहीं हो रहा है कि उत्पादन–वितरण में निवेश के लिए उधार दिया या लिया जा रहा हो। आखिर जब बिक्री के लिए बाजार है ही नहीं तो फिर निवेश क्यों किया जाय चाहे ट्टण कितना भी सस्ता क्यों न हो?

क्या महज इंवेन्टरी बढ़ाने के लिए? इसीलिए इस कम ब्याज दर का परिणाम यह हो रहा है कि एक बार फिर बड़े पैमाने की सट्टेबाजी में धड़ल्ले से निवेश किया जा रहा है। इसके कई क्षेत्र हैं।

लेकिन इस पर आने से पहले एक बात और जान लेना फायदेमंद होगा। अमरिकी सरकार ने बाजार में तरलता पैदा करने के लिए 'क्वाइंटिटेटिव इंजिंग' का भी नुस्खा आजमाया है। इसका मतलब है फेडरल रिजर्व बोर्ड (अमेरिकी का केन्द्रीय बैंक) द्वारा सरकार की प्रतिभूतियों को खरीदकर उसके बदले बाजार में डालर की मात्रा को बढ़ाना। बाद की दूसरी किश्त में इस तरह **600** अरब डालर बाजार में डाले गये। भांति–भांति के तरीके से सरकार ने **2300** अरब डालर बाजार में डाल दिये हैं।

निम्न ब्याज दर और इस 'इंजिंग' का एक परिणाम यह हुआ कि दुनिया भर के शेयर बाजार एक बार फिर कुलांचे भरने लगे हैं। वास्तविक उत्पादन–वितरण में लगभग कोई सुधार नहीं हुआ है लेकिन शेयर बाजार **2007–08** की उच्चतम सीमा के करीब पहुंचने लगे हैं। सस्ती दर पर उपलब्ध बेशुमार ट्टणों का सट्टेबाज यही इस्तेमाल कर रहे हैं। यहां बाजार की क्रय शक्ति की सीमा उन्हें परेशान नहीं कर रही है।

विकसित ही नहीं, पिछड़े पूंजीवादी देशों में भी यह सट्टेबाज पूंजी जा रही है ओर वहां शेयर बाजार में उछाल पैदा कर रही है। वास्तव में संकट की शुरुआत से अब तक प्रत्यक्ष विदेशी पूंजी निवेश की मात्रा इन देशों में काफी घटी है। लेकिन इसके मुकाबले शेयर बाजार में निवेश कुछ समय घटने के बाद अब पुनः तेजी से बढ़ रहा है। इन देशों में आ रही विदेशी पूंजी का यह प्रमुख हिस्सा है।

शेयर बाजार के अलावा सट्टेबाजों ने पिछले समय में प्राथमिक बाजार में बड़े पैमाने पर निवेश करना शुरू किया है। इसने माल बाजार में उछाल को पैदा किया है। इसे निम्न तालिका दिखाती है।

तालिका–8

प्राथमिक मालों के दामों का सूचकांक

माल	2009				2010		
	I	II	II	IV	I	II	III
खाद्यय पदार्थ	206	213	228	233	232	205	225
पेय पदार्थ	164	175	186	201	198	201	220
खाद्यय तेल	188	226	215	224	234	233	258
कृषि कच्चा माल	146	150	164	193	210	205	206
खनिज पदार्थ और धाातु	182	214	252	278	299	296	301
कच्चा तेल	155.5	212.0	245.3	269.3	273.2	277.5	267.3

स्त्रोत वही : तालिका A-14

2009 और **2010** की इन सात तिमाहियों में जबकि वास्तविक उत्पादन की हालत खस्ता हो तब प्राथमिक मालों के दामों में इस तेज वृद्वि का क्या कारण हो सकता है? वास्तव में तो सट्टेबाजों ने प्राथमिक मालों की ओर रूख तभी कर लिया था जब **2007** में शेयर बाजार और प्रतिभूति बाजार में संकट आया। इसी कारण **2008** में खाद्य पदार्थों के दाम आसमान चढ़ गये थे। जब **2008** के अंत और **2009** की शुरुआत में पूरी अर्थव्यवस्था की सांस थम गयी और हर वित्तीय संस्थान के जिंदा रहने का संकट खड़ा हो गया तभी इसमें कुछ कमी आई। इसके बाद यह फिर और बड़े पैमाने पर शुरू हो गया।

महत्वपूर्ण बात यह है कि इसी काल में साम्राज्यवादी देशों में दामों में वृद्वि बहुत कम रही। सरकारी आंकड़े तो महज **2.3** प्रतिशत ही महंगाई की दर दर्शाते हैं।

स्पष्ट है कि प्राथमिक मालों के दामों में यह तेजी न तो कम उत्पादन के कारण है और न ही बढ़ी हुयी मांग के कारण। यह सस्ती ब्याज दर पर उपलब्ध भारी मात्रा में ट्टणों को हासिल कर शुद्व सट्टेबाजी का परिणाम है। इन बढ़े हुए दामों का रत्तीभर फायदा इन्हें पैदा करने वाले पिछड़े देशों को नहीं होगा। इसका सारा फायदा सट्टेबाज पूंजीपति उठायेंगे। लेकिन इसके द्वारा वे जो एक नया बुलबुला पैदा कर रहे हैं उसका परिणाम फिर अंततः मजदूर वर्ग व अन्य मेहनतकश जनता को भुगतना पड़ेगा।

जैसा कि हमने पहले हिस्से में देखा पिछले तीन सालों में सरकारों के कर्जे में भारी मात्रा में वृद्वि हो गई है। निजी क्षेत्र के वित्तीय संस्थानों के कर्जे सरकारों को हस्तांतरित हो गये हैं। निजी क्षेत्र का कर्ज भांति–भांति की परिसम्पत्तियों के रूप में था जो बाद में जहरीली हो गयी थीं। यदि ये जहरीली न होती तो इन्हें बेच कर वित्तीय संस्थान अपने कर्जे चुका देते। अब सरकारों ने जब बैंकों के कर्जे अपने सिर पर ओढ़ लिए हैं तो उसी अनुपात में सरकारी बाण्डों, प्रतिभूतियों इत्यादि का अंबार लग गया है। इन सरकारी प्रतिभूतियों को वित्तीय संस्थान और सट्टेबाज भारी मात्रा में खरीदते और बेचते हैं। अभी हाल तक यही कहा जाता था कि दुनिया में सबसे सुनिश्चित निवेश अमेरिकी सरकार की प्रतिभूतियों में है।

अब बाजार में इतनी बड़ी मात्रा में सरकारी प्रतिभूतियों की उपस्थिति और उनकी खरीद–बेच से इस बात की संभावना पैदा हुयी है कि इस क्षेत्र में भी सट्टेबाज उसी तरह ताश का महल खड़ा करें जैसे मकान गिरवी आधारित प्रतिभूतियों के क्षेत्र में हुआ था। फर्क केवल इतना होगा कि इसका सीधा असर सरकारों पर पड़ेगा और फिर पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं को बचाने वाला कोई नहीं होगा। दक्षिण यूरोपीय

देशों की सरकारों की डांवांडोल स्थिति इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। भारत का **1992** का प्रतिभूति घोटाला तो इनके सामने केवल एक नन्हा सा बुलबुला ही लगेगा।

जैसा कि पहले कहा गया है अत्यन्त सस्ते दर पर ट्टण की उपलब्धता सट्टेबाजों को पिछड़े पूंजीवादी देशों के बाजारों की तरफ ले जा रही हैं पिछले समय में गैर बैंकिंग वित्तीय संस्थानों ने लैटिन अमेरिका में बड़े पैमाने पर निवेश किया है। इसी तरह तथाकथित उभरती हुयी अर्थव्यवस्थाओं के शेयर बाजार में बड़ी मात्रा में निवेश हुआ है। इसने इन देशों में उस स्थिति को पैदा करना शुरू कर दिया है जिसमें साम्राज्यवादी देशों में वित्त बाजार की हलचल इनके बाजारों में तबाही ला दे।

सट्टेबाज पूंजी के इस आगमन और आयात से ज्यादा निर्यात के चलते इन देशों में विदेशी मुद्रा भंडार जमा होता रहा है। इस मुद्रा भंडार से भी फायदा अंततः साम्राज्यवादियों खासकर अमेरिकी साम्राज्यवादियों को होता रहा है क्योंकि सरकारें बहुत कम ब्याज दरों वाली अमेरिकी सरकार की प्रतिभूतियों में इस भंडार का निवेश करती रही हैं। इसके अलावा कई देशों की सरकारों ने 'सावरिन वेल्थ फण्ड' बनाकर साम्राज्यवादी देशों में इसके माध्यम से निवेश किया था। वस्तुतः **1998** से पिछड़े देशों से विकसित देशों की ओर पूंजी का प्रवाह होता रहा है। यह क्रमशः इस प्रकार है : 41.0, 128.0, 194.0, 164.4, 210.2, 302.7,379.5, 597.2, 807.8, 881.1, 876.4, 545.1, 557.0, अरब डालर।

अपने पिछले अनुभवों के कारण पिछड़े देशों की सरकारों ने येन केन प्रकारेण विदेशी मुद्रा भंडार बढ़ाने की कोशिश की थी जिससे वे संकट के समय भुगतान संतुलन के संकट से निपट सकें। यह विदेशी मुद्रा भंडार ज्यादातर डालर में होता रहा है लेकिन पिछले समय में डालर के मूल्य में उठा–पटक ने इन सरकारों को कुछ और करने को प्रेरित किया है। इस समय दुनिया की कई सरकारें सोना खरीदने में लगी हुयी हैं। इसमें रूस, चीन और भारत की सरकारें भी हैं। मैक्सिको सरकार ने पिछले महीनों में सौ टन सोना खरीदा। एक अनुमान के अनुसार इस साल सरकारें कुल **240** टन सोना खरीदेंगी। अभी तक का रिकार्ड **1981** में **276** टन का है।

गंभीर संकट के समयों में केवल सोना ही वास्तविक मुद्रा रह जाता है। इस तरह दुनिया की सरकारों का अपने मुद्रा भंडार में डालर के बदले सोना जमा करना इस बात का संकेत है कि सरकारें दुनिया की सबसे प्रचलित मुद्रा और प्रकारान्तर से अमेरिकी अर्थव्यवस्था पर भरोसा नहीं कर रही हैं। जापानी अर्थव्यवस्था दलदल में है, यूरोप सरकारों के दिवालियेपन से जूझ रहा है। ऐसे में विश्व अर्थव्यवस्था में कौन सी ताकत बचती है जो उसे स्थिरता व गति प्रदान करे? क्या तथाकथित उभरती अर्थव्यवस्थाएं जिसमें से एक चीन को छोड़कर बाकी सब सट्टेबाजों की गोटियों के साथ उठती–गिरती हैं?

III पुनर्गठन, नियमन और नियंत्रण

2008 में धुर दक्षिणपंथियों के लिए भी इस निष्कर्ष से बचना असंभव हो गया कि अनियंत्रित पूंजीवादी व्यवस्था को यदि इसी तरह चलने दिया गया तो यह और भी बड़े संकटों को जन्म देगी। जार्ज सोरोस जैसा बड़ा सट्टेबाज वर्षों से यह कहता आ रहा था कि अनियंत्रित पूंजीवाद ज्यादा दिन तक नहीं चल सकता। अब 'वाशिंगटन कन्सेंसस' वालो को भी इसे स्वीकार करना पड़ा। अमेरिकी साम्राज्यवादियों द्वारा नियुक्त दो संस्थाओं – वित्तीय संकट जांच आयोग तथा आर्थिक संकट पर सीनेट सब कमेटी – ने इसे तस्दीक किया।

इसके बाद औपचारिक तौर पर यह घोषित किया गया कि वित्तीय व्यवस्था को नियमन और नियंत्रण के दायरे में लाने के लिए कदम उठाये जायेंगे। सट्टेबाज पूंजी के लिए बने विशेष अड्डों यानी 'ऑफशोर बैंकिंग' पर लगाम कसी जायेगी। बैंकों के लिए नये तथा कठोर मापदंड बनाये जायेंगे। गैर बैंकिंग वित्तीय क्षेत्र यानी हेज फण्ड, इक्विटी फण्ड इत्यादि को नियमन–नियंत्रण के दायरे में लाया जायेगा। रेटिंग ऐजेन्सियों पर लगाम कसी जायेगी। वगैरह–वगैरह।

लेकिन वित्तीय पूंजी पर लगाम कौन कसता? सरकारें तो इसी वित्तीय पूंजी की गुलाम हैं। सरकारों ने मजदूरों–मेहनतकशों का गला घोंटकर न केवल इस वित्त पूंजी को बचाया था बल्कि ऐन संकट के समय भी इनके अकूत मुनाफे का प्रबन्ध किया था। अब वह इन पर लगाम कैसे और क्यों कर कसती?

इसीलिए ऑफशोर बैंकिंग पर कुछ हल्ला मचा कर उसे चुपचाप भुला दिया गया। बैंकों को तथाकथित 'स्ट्रेस टेस्ट' की कसौटी पर कसा गया और फिर नये मापदंड के तौर पर बैसेल.**III** की घोषणा की गई। गौरतलब है कि बैसेल.**II** के मापदंडों को भी बैंकों के लिए अत्यंत सुरक्षित घोषित किया गया था लेकिन जिन्होंने असल में बड़े पैमाने की सट्टेबाजी में बैंकों को मशगूल होने को प्रोत्साहित किया था। बैसेल.**III** भी उससे ज्यादा भिन्न नहीं है।

गैर बैंकिंग वित्तीय क्षेत्र पर नियंत्रण का तो यह हाल है कि ओबामा सरकार ने इस संबंध में एक कानून भी पास कर दिया है। लेकिन असल में इसका कोई मतलब नहीं है। असल में यह कुछ न करते हुए भी करने का दिखावा है। यही बात रेटिंग एजेन्सियों के बारे में भी है। उन पर भी नियंत्रण की सारी बातें केवल बातें हैं। वही बदनाम रेटिंग एजेन्सियां अभी भी अपना गुल खिला रही हैं। यहां तक कि वे सरकारों की प्रतिभूतियों की रेटिंग को ऊपर–नीचे कर सरकारों को अपनी नीतियों में परिवर्तन करने के लिए मजबूर कर रही हैं। वे वित्तीय सट्टेबाजों के साथ मिलकर सरकारों को दिवालियेपन की ओर धकेल रही हैं।

दरअसल उदारीकरण की समूची प्रक्रिया पर उसकी समग्रता में विचार कर उसे पलटे बिना वित्त पूंजी पर कोई कारगर नियंत्रण संभव नहीं है। वित्तीय पूंजी या तो इस नियंत्रण को कायम नहीं होने देंगी या यह नियंत्रण पूंजी के प्रवाह में ऐसी बाधाएं पैदा करेगा कि नियंत्रकों को खुद ही इन को हटाना पड़ेगा। इस नियंत्रण के लिए **1971** के पहले की ब्रेटन वूड्स की व्यवस्था की ओर जाना पड़ेगा जिसके लिए आज की सट्टेबाज वित्तीय पूंजी कतई तैयार नहीं होगी। इसीलिए आज जो नियंत्रण की बातें हो रही हैं वे उदारीकरण के आम प्रफेमवर्क के भीतर हैं जो केवल कुछ कतर–ब्योंत तक जाती हैं। केवल एक उदाहरण स्पष्ट कर देगा।

इस संकट में भांति–भांति की व्युत्पत्तियों (डेरिवेटिव्स) ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। सट्टेबाजी का पूरा ताना–बाना उन्हीं से निर्मित हुआ। सी डी ओ और सी डी एस जैसी व्युत्पत्तियां इनमें प्रमुख थीं। जिस एक वित्तीय संस्थान को बचाने के लिए अमरीकी सरकार को सबसे ज्यादा धन खर्च करना पड़ा वह ए आई जी था जो सी डी एस का कारोबार करता था यानी ट्टणों का बीमा। अब इतना सारा हो जाने के बाद भी इस तरह की व्युत्पत्तियों पर रोक लगाने की कोई बात नहीं हो रही है। इसके उलट यह कहा जा रहा है कि इनके बिना वित्तीय बाजार ठीक से काम नहीं कर सकता। वित्तीय बाजार के लिए ये जरूरी हैं।

इस तरह वित्तीय व्यवसाय यथावत रहेगा। दिखाने के लिए कुछ कानून बना दिये जायंगे। कुछ संस्थाएं बना दी जायेंगी या पुरानी को जिन्दा कर दिया जायेगा। लेकिन इस वित्त बाजार की अराजकता पर कोई असर नहीं पड़ेगा। असल में तो यह आज की वित्त पूंजी की वास्तविक स्थिति को दिखाता है कि वह किस कदर नियंत्रण से परे है। यदि उसे नियंत्रित करने का प्रयास किया जायेगा तो मुनाफे का

चिरकालीन संकट खड़ा हो जायेगा। इसीलिए इस नियंत्रण के बदले वित्त पूंजी सारा जोर इस पर लगा रही है कि कैसे मजदूर वर्ग और मेहनतकश जनता को निचोड़ कर मुनाफे को बनाये रखा जाय और वर्तमान संकट से निजात पाई जाये।

यदि देशों के भीतर वित्त पूंजी पर नियंत्रण की यह हालत है तो सारी दुनिया के पैमाने पर स्थिति कोई बेहतर नहीं है। बैसेल.ष्ष के बारे में हम पहले ही बात कर चुके हैं। सारी दुनिया के पैमाने पर वित्त पूंजी के नियमन की बात केवल इस पर आकर खत्म हुयी कि ळ.20 की बैठकें करके नीतियों का कुछ संयोजन किया जाय तथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक जैसी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की संरचना में कुछ परिवर्तन किया जाय। साम्राज्यवादी इससे ज्यादा आपस में सहमति नहीं बना सके।

निश्चित तौर पर साम्राज्यवादी इस बात के लिए तैयार नहीं होंगे कि G-20 जैसी किसी महफिल में भारत के पूंजीपति उनकी बराबरी में बैठें। लेकिन यह उनकी मजबूरी भी बनती है सारी दुनिया के पैमाने पर वित्त पूंजी के प्रवाह पर संयोजन के लिए वे उनसे बात करें। साम्राज्यवादियों के आपसी अंतर्विरोध तथा साम्राज्यवादियों और पिछड़े देशों के पूंजीपतियों के अंतर्विरोध के चलते G-20 की महफिलें केवल सदिच्छाओं की अभिव्यक्ति का स्थल बन गई हैं। यहां उनके बीच सहमति उतनी नहीं बनती जितना उनके अंतर्विरोध मुखर होते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक की संरचना के मामले में भी बस इतनी सहमति बन पायी कि कुछ प्रतिशत वोटिंग अधिकारों को 'नयी उभरती अर्थव्यवस्थाओं' को स्थानान्तरित कर दिया जाय। लेकिन अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में अमेरिकी वीटो जस का तस बना रहेगा। इन दोनों संस्थाओं में इस नाम–मात्र के परिवर्तन के साथ इन्हें एक बार फिर विश्व अर्थव्यवस्था के संचालन के केन्द्र में ला दिया गया। यह साम्राज्यवादियों, खासकर अमेरिकी साम्राज्यवादियों की बड़ी उपलब्धि थी। वस्तुतः आयरलैण्ड और ग्रीस के 'बेल आउट' में एक बड़ा हिस्सा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने दिया है।

इस तरह वैश्विक अर्थव्यवस्था के संचालन के मामले में भी स्थिति लगभग यथावत है। स्पष्ट ही है कि न तो यह स्थिति **2008** में संकट को हल करने में सक्षम थी और न अब। आने वाले दिनों में जब संकट एक बार फिर से गहरायेगा तो यह और प्रत्यक्ष हो जायेगा।

IV आपसी प्रतिद्वन्द्विता और तीखे होते अंतर्विरोध

जब **2008** में दुनिया के पूंजीपतियों को अपनी व्यवस्था ध्वस्त होती लगी तो उन्होंने बहुत जोर–शोर से घोषणा की कि वे वैश्विक अर्थव्यवस्था को संकट से उबारने के लिए मिल–जुल कर काम करेंगे। वे **1929** की गलती नहीं दोहरायेंगे जब आपसी प्रतिद्वन्द्विता, दूसरों की कीमत पर खुद को बचा लेने की कोशिश ने सबको महामंदी में धकेल दिया था।

लेकिन औपचारिक घोषणा करना या इच्छा जाहिर करना एक बात है और उस पर चलना दूसरी बात। बहुत तीखे संकट ने उन्हें कुछ कदम साथ मिलकर उठाने के लिए मजबूर किया था लेकिन जैसे ही संकट कुछ हल्का होता दिखा वैसे ही दूसरी गति दीखने लगी। यही नहीं, संकट के एक भिन्न रूप ग्रहण कर लेने से भी स्थिति जटिल हो गई।

2008.2009 में बहुत जोर–शोर से कहा गया था कि संकट का एक मूल कारण वैश्विक असंतुलन है। कुछ देश बहुत ज्यादा निर्यात कर रहे हैं और उनके यहां देशी उपभोग बहुत कम है। इसी तरह कुछ देश आयात कर उपभोग कर रहे हैं। इस कारण कुछ देशों का चालू खाता घाटे में है जबकि कुछ का अधिशेष में। अधिशेष चालू खाते वाले देश बड़े पैमाने पर विदेशी मुद्रा भंडार जमा कर रहे हैं जो फिर निवेश या उधार के जरिये साम्राज्यवादी देशों में पहुंच रहा है और वहां बड़े पैमाने की सट्टेबाजी को जन्म दे रहा है। यह वित्तीय तरलता और सट्टेबाजी वैश्विक अर्थव्यवस्था को अस्थिर बना रही है। इसलिए वैश्विक अर्थव्यवस्था की स्थिरता के लिए जरूरी है कि इस वैश्विक असंतुलन को समाप्त किया जाय।

यहां यह गौरतलब है कि अधिशेष खाते वाले प्रमुख देश जापान, चीन और जर्मनी हैं तो घाटे के चालू खाते वाले प्रमुख देशों में संयुक्त राज्य अमेरिका है। मामले को गहराई से देखने के लिए तालिकाओं को लें।

तालिका – 9

व्यापार संतुलन (अरब डालर में)

देश/समूह	2001	2002	2003	2004	2005	2006	2007	2008	2009
विकसित देश	-254.9	-254.6	-304.6	-419.5	-634.2	-784.1	-766.6	-833.7	-437.7
जापान	69.2	92.5	104.0	128.5	93.9	81.1	105.1	38.4	43.4
स.रा.अमेरिका	-422.0	-475.4	-541.5	-665.6	-783.8	-839.5	-823.5	-834.7	-570.0
यूरोप	48.8	96.7	108.0	86.4	20.5	-57.7	-83.6	-125.7	33.0
संक्रमणशील अर्थव्यस्थाएं	37.7	34.3	43.1	71.2	106.5	128.5	110.0	165.2	93.4
विकासशील देश	181.7	220.8	293.4	354.2	549.3	746.5	806.2	843.6	528.6
लैटिन अमेंरिका	-5.3	22.0	43.8	59.2	82.5	101.6	72.8	47.8	54.9
अफ्रीका	16.3	5.6	15.5	33.5	65.6	94.8	94.7	114.4	2.7
प.एशिया	64.5	61.9	83.4	111.8	182.9	234.2	221.8	341.3	165.2
पूर्वी एशिया	117.5	139.0	166.0	180.0	255.5	367.4	473.7	448.1	423.8
दक्षिण एशिया	-11.2	-7.6	-15.3	-30.3	-37.3	-51.6	-56.8	-108.1	-118.1

स्त्रोत : वही तालिका A-18

c

तलिका–10									
चालू खाता संतुलन (अरब डालर में)									
देश/समूह	2001	2002	2003	2004	2005	2006	2007	2008	2009
विकसित देश	-282.5	-285.2	-320.0	-336.6	-523.3	-596.6	-540.9	-667.8	-280.3
जापान	87.8	112.6	136.2	172.1	165.7	174.4	211.0	157.1	141.8
स.रा.अमेरिका	-397.2	-458.1	-520.7	-630.5	-747.6	-802.6	-718.1	-668.9	-378.4
यूरोप	19.5	65.3	85.7	144.6	88.2	68.3	23.4	-103.7	41.7
संक्रमणशील अर्थव्यवस्थाएं	31.0	25.3	30.3	56.3	80.2	87.5	56.0	85.1	31.5
विकसशील देश	78.6	125.7	219.8	282.5	481.8	722.8	799.1	799.5	470.9
लैटिन अमेरिका	-52.4	-14.9	10.6	22.3	38.5	52.1	17.7	-26.3	-19.8
अफ्रीका	5.4	-7.5	0.0	11.8	35.9	85.1	65.3	59.1	-22.5
प.एशिया	31.7	21.0	41.0	70.3	142.3	184.9	149.4	218.9	41.9
पूर्वी एशिया	84.4	113.3	154.3	175.2	260.8	395.1	548.2	585.0	500.9
दक्षिण एशिया	7.6	13.8	13.9	2.9	4.4	5.6	18.5	-17.3	-29.6
स्त्रोत : वही तालिका A-18									

दोनों तालिकाओं से दिखता है कि पिछड़े देशों के समूहों का व्यापार संतुलन और चालू खाता संतुलन धनात्मक है (दक्षिण एशिया को छोड़ कर)। इसके मुकाबले संयुक्त राज्य अमेरिका का दोनों संतुलन ट्टणात्मक है। पिछड़े देशों के धनात्मक संतुलन के पीछे प्रमुखतः तीन कारण है : कच्चे तेल और प्राथमिक मालों का निर्यात, पिछले सालों में कुछ पिछड़े देशों में कुछ उद्योगों व सेवाओं का स्थानांतरण (बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा आउट सोर्सिंग व विकेन्द्रीकृत उत्पादन) तथा इन देशों से बाहर जाकर काम करने वालों द्वारा पैसे का स्थानांतरण। साम्राज्यवादी देशों में जहां जर्मनी और जापान अधिशेष वाले देश हैं (दोनों ही औद्योगिक मालों के बड़े निर्यातक हैं) वहीं अमेरिका सबसे बड़े घाटे वाला देश है। वस्तुतः अकेले अमेरिका का घाटा सबके अधिशेष के बराबर है।

पिछड़े मुल्कों के इस अधिशेष का यह मतलब नहीं है कि इससे उन्हें फायदा हो रहा है। व्यापार की जो शर्तें हैं उससे तो उन्हें घाटा ही हो रहा है। ऊपर से यह कि वे अपने अधिशेष को बहुत सस्ती दरों पर साम्राज्यवादी देशों में निवेश करते हैं। इसी से साम्राज्यवादी देशों की ओर उल्टा पूंजी का प्रवाह होता है। यानी व्यापार अधिशेष और चालू खाते का अधिशेष उनके लिए कोई बहुत लाभदायक चीज नहीं है।

अमेरिकी साम्राज्यवादियों द्वारा वैश्विक असंतुलन की चीख–पुकार से अलग यह असंतुलन कई सारी समस्याओं को जन्म दे रहा है। एक ओर अमेरिकी साम्राज्यवादी चाहते हैं कि उनका निर्यात बढ़ सके इसके लिए चीन जैसा देश अपनी मुद्रा की कीमत डालर के मुकाबले ऊंची करे। उनके अनुसार निर्यात बढ़ाने के लिए चीन ने जानबूझ कर अपनी मुद्रा नीची रखी हुई है। इस तरह आम तौर पर दूसरों की मुद्राओं का अवमूल्यन करवाने के लिए दबाव डालने वाले साम्राज्यवादी इस बार मुद्रा का दाम बढ़ाने का दबाव बना रहे हैं। लेकिन खुद उनकी नीतियों के चलते सभी देशों की मुद्राएं ऊपर चढ़ रही हैं और वे देश उन्हें नीचे रखने का प्रयास कर रहे हैं। जैसा कि पहले कहा गया है अमेरिका में ब्याज दरें अत्यन्त नीची होने के चलते और बाजार में तरलता के कारण बड़ी मात्रा में सट्टेबाज पूंजी दूसरे देशों में जा रही है। यह सट्टेबाज पूंजी उन देशों के बाजारों में उथल–पुथल पैदा कर रही है वहीं वहां की मुद्राओं को ऊपर भी उठा रही है। इससे उनका निर्यात मंहगा हो रहा है। ऐसे में सभी देश प्रयास कर रहे हैं कि उनकी मुद्राएं नीची रहें। इस तरह सभी देशों में अपनी मुद्राओं को नीची रखने की होड़ चल रही है। यह होड़ आपस में किसी संयोजन को किनारे लगा दे रही है।

जैसा कि पहले कहा गया है डालर की डावांडोल स्थिति, अमेरिकी सरकार का धड़ल्ले से मुद्रा बाजार में डालर डालना, मुद्राओं की प्रतिद्वन्द्विता, सट्टेबाज पूंजी की अस्थिरता इत्यादि वे कारण हैं जो कई देशों को इस ओर धकेल रहे हैं कि वे अपने विदेशी मुद्रा भंडार में मौजूद डालर बेचकर सोना खरीदें। भविष्य के अनिश्चित माहौल के लिए सोना ज्यादा निश्चितता पैदा करता है।

मुद्राओं, पूंजी के प्रवाह और आयात–निर्यात को लेकर जापानी, जर्मन और अमेरिकी साम्राज्यवादियों में खासी खींच–तान मची हुयी है। जापानियों की सबसे बड़ी चिंता अपनी अर्थव्यवस्था में व्याप्त ठहराव को तोड़ने की है। वहीं जर्मनी अपने निर्यात के लाभ को छोड़ना नहीं चाहता। ऐसे में ये तीनों प्रमुख साम्राज्यवादी देश किसी एक आम राय पर सहमत होने के बदले तीन दिशाओं में चलते हैं। यह संकट के समाधान के बदले उसको बढ़ाने की ओर ले जाता है।

संकट के इस समय में साम्राज्यवादियों के बीच तीखी प्रतियोगिता लीबिया के मामले में दिखी। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन और नंस में एक तरह से होड़ सी लगी है कि लीबिया को कौन हथियाता है। दांव पर लगा है न केवल लीबिया बल्कि समूचा अनीका महाद्वीप। अनीका के प्राकृतिक संसाधनों को हथियाने के लिए चीन पिछले सालों में बड़े पैमाने पर सक्रिय हुआ है। उसके साथ ही भारत के पूंजीपति भी हाथ–पांव मार रहे हैं। रूसी साम्राज्यवादी भी पीछे नहीं रहना चाहते। इनके मुकाबले अनीका के पुराने मालिक ब्रिटेन और नंसीसी

साम्राज्यवादी हैं। अमेरिकी साम्राज्यवादी तो हर जगह विद्यमान हैं। पिछले सालों में उन्होंने खासतौर पर अफ्रीका के लिए अपनी सेन्ट्रल कमान को विस्तारित किया है।

गद्दाफी का गुनाह यह था कि पश्चिमी साम्राज्यवादियों के सामने समर्पण करने और उनसे सांठ–गांठ करने के बावजूद वे स्वयं अफ्रीका का नेता बनना चाहते थे। वे अफ्रीका के लिए अलग से एक कोष बनाना चाहते थे। वे अफ्रीकी यूनियन को मजबूत बनाना चाहते थे। इसके लिए वे अपनी तेल से होने वाली आय का इस्तेमाल करना चाहते थे। उन्होंने वेनेजुएला और क्यूबा से संबंध बना रखे थे। यही नहीं उनका केन्द्रीय बैंक अभी भी देशी नियंत्रण में था। पिछले दिनों वे भी डालर के बदले अन्य मुद्राओं के भंडार की बात करने लगे थे।

इतना कुछ पश्चिमी साम्राज्यवादियों द्वारा नहीं बर्दाश्त किया जा सकता है, खासकर इस संकट के समय में जब छोटी से छोटी बात भी महत्वपूर्ण हो जाती है। इसीलिए दस साल से लीबिया पर कब्जा करने की योजना बना रहे अमेरिकी साम्राज्यवादियों और नंसीसियों में होड़ लग गयी कि वहां कौन पहले पहुंचता है। अरब विद्रोहों ने उन्हें एक झूठा बहाना दे दिया और वे लीबिया पर कब्जा करने के लिए लड़ाई में उतर पड़े।

महत्वपूर्ण बात है कि लीबिया पर इस हमले ने यूरोपीय संघ के भीतर मतभेदों को और तेज कर दिया। जर्मनी ने हमले का विरोध किया। औपचारिक तौर पर नाटो की कमान के बावजूद गिनती के कुछ देश वास्तविक हमले में शामिल हैं। रूसी साम्राज्यवादी इस हमले के विरोध में हैं और साम्राज्यवादी मंसूबों वाले चीनी शासक भी।

इस बीच विदशों में जमा लीबिया के करीब **150** अरब डालर को अमेरिकी–ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने जब्त कर लिया है। संकट के समय क्या यह रकम थोड़ी है? यदि वे लीबिया के पूर्वी इलाके यानी तेल क्षेत्र पर कब्जा करने में कामयाब हो जाते हैं तो बाकी रेगिस्तान को गद्दाफी के लिए छोड़ सकते हैं।

बहुत सारे लोग अफ्रीका के प्राकृतिक संसाधनों के लिए इस मारकाट को दूरगामी तौर पर तीसरे विश्व युद्व की शुरुआत के तौर पर देखते हैं। लेकिन इतना आगे न जायें तो भी यह निश्चित है कि इस संकट ने साम्राज्यवादियों के बीच आपसी होड़ को बढ़ा दिया है वे किसी भी तिनके का सहारा लेने से नहीं चूकेंगे। और फिर पूरा एक महाद्वीप तो बहुत बड़ी चीज है।

इस संकट ने साम्राज्यवादियों के आपसी सहयोग को बहुत बुरी तरह से प्रभावित किया है। इसका एक नमूना दक्षिणी यूरोपीय देशों का संकट और यूरापीय संघ के साथ उसका संबंध है।

V दक्षिणी यूरोप का संकट और यूरोपीय संघ

इस संकट ने यूरोपीय संघ की यूरोपीय साम्राज्यवादियों, खासकर नंसीसी व जर्मन साम्राज्यवादियों की परियोजना में निहित अंतर्विरोधों को खुलकर सामने ला दिया है। यहां तक कि इस परियोजना के ही खटाई में पड़ने की संभावना पैदा हो गई है।

यूरोपीय संघ का मतलब था यूरोप के साम्राज्यवादियों के हित में राष्ट्रीय सीमाओं का तिरोहण। इसके जरिये साम्राज्यवादी पूंजी के प्रवाह को एकदम मुक्त किया जाना था। यूरोप के पिछड़े व कमजोर देशों के बाजार पर कब्जा किया जाना था। मजदूर वर्ग की क्रय शक्ति और सौदेबाजी की क्षमता घटाई जानी थी। इसके जरिये नंसीसी व जर्मन साम्राज्यवादियों को अमेरिका व अन्य साम्राज्यवादियों के मुकाबले सौदेबाजी की ज्यादा क्षमता हासिल होनी थी।

यह साम्राज्यवादी पूंजी द्वारा साम्राज्यवादी पूंजी के हित में एकीकरण था इसलिए मजदूर वर्ग ने शुरू से ही इस एकीकरण का विरोध किया। साम्राज्यवादी पूंजी द्वारा धुआंधार प्रचार और कई दौरों के मतदान के बाद ही संघटक देशों में इस एकीकरण को मान्यता मिल सकी, वह भी बहुत थोड़े बहुमत से।

साम्राज्यवादी पूंजी के हित में होने वाले इस एकीकरण के लिए शुरू से ही यह शर्त रखी गयी थी कि संघटक देशों की सरकारों का बजट घाटा सकल घरेलू उत्पाद के **3** प्रतिशत से ज्यादा और कुल सरकारी कर्ज **60** प्रतिशत से ज्यादा नहीं होगा। यह सरकारों द्वारा मजदूर वर्ग पर राहत कार्यों को घटाने के लिए और उसे एक सीमित मात्रा में रखने के लिए जरूरी था हालांकि तर्क यह दिया गया कि इस सीमा से ज्यादा खर्च होने पर एक समान मौद्रिक व वित्तीय नीतियां अपनाना संभव नहीं हो पायेगा जो कि आर्थिक एकीकरण के लिए जरूरी है। यूरोपीय संघ के कुछ देशों (इस समय **27** में से **17**) द्वारा साझा मुद्रा यूरो अपनाने के बाद एक समान ब्याज दर, एक समान बाजार में हस्तक्षेप, एक समान वित्तीय नीति इत्यादि यूरो क्षेत्र के लिए नियम बना दिया गया। (यूरो क्षेत्र बेल्जियम, जर्मनी, ग्रीस, स्पेन, इस्टोनिया, नंस, आयरलैण्ड, इटली, साइप्रस, लग्जमबर्ग, माल्टा, नीदरलैण्ड, आस्ट्रिया, पुर्तगाल, स्लोवेनिया और फिनलैण्ड)।

यूरोपीय संघ और यूरो क्षेत्र में शामिल होने वाले दक्षिण यूरोप के देशों–स्पेन, पुर्तगाल, इटली और ग्रीस– के लिए स्थिति पहले ही अनुकूल नहीं थी। यूरोप के ज्यादा विकसित देशों के मुकाबले ये देश पिछड़े थे। इनके सरकारी बजट की हालत खराब थी। इनका बजट घाटा ज्यादा था और सरकारी कर्ज भी। सामाजिक मापदंडों पर भी ये विकसित देशों के मुकाबले पिछड़े थे। इनको वहां तक लाने के लिए सरकारी खर्च को बढ़ाना जरूरी था जबकि एकीकरण की शर्त खर्चों को कम करना थी।

इसीलिए यूरोपीय संघ और यूरो क्षेत्र में शामिल होने के समय ही ये देश उनके मापदंडों के हिसाब से संकटग्रस्त थे। उनका उनमें समायोजन काफी मुश्किल साबित हुआ और वक्त के साथ अंतर्विरोध बढ़ते गये। मसलन इटली का वित्तीय घाटा **2007** व **2008** में ही **3%** प्रतिशत की सीमा में रहा जबकि कुल सरकारी कर्ज तो कभी भी **60** प्रतिशत की सीमा में नहीं रहा।

यूरोपीय संघ और यूरो क्षेत्र के सभी देश एक जैसे नहीं थे और इसीलिए उनकी अर्थव्यवस्थाओं के संचालन के लिए एक जैसी नीतियां नहीं बनाई जा सकती थीं। लेकिन यूरापीय साम्राज्यवादियों की वित्त पूंजी मांग कर रही थी कि उसके निर्बाध प्रवाह के लिए सब जगह एक जैसी नीतियां हों– एक ब्याज दर, एक मुद्रा स्फीति की दर, एक समान वित्तीय नीति इत्यादि। सामान्य समय में ही दक्षिणी यूरोप के देशों के लिए ये समस्या पैदा करती थीं और जब **2008** में गंभीर संकट आया तो मामला असहनीय स्तर तक जा पहुंचा।

2008 के संकट में दक्षिण यूरोप के देश (साथ में आयरलैण्ड) अलग–अलग तरीके से चपेट में आये। इनमें कुछ समान कारक थे तो कुछ विशिष्ट। मसलन स्पेन में बड़े पैमाने का 'रीयल स्टेट बूम' था लेकिन पुर्तगाल में समस्या बैंकों का कर्ज थी। आयरलैण्ड में जमीनों सहित कई क्षेत्रों में विदेशी पूंजी का बड़े पैमाने पर निवेश था जो संकट आने पर छू मंतर हो गई।

2008 में संकट गहराने पर, जैसा कि सभी सरकारों ने किया, इन देशों की सरकारों ने भी बड़ी मात्रा में पैसा वित्तीय संस्थानों को बचाने और अर्थव्यवस्था की गिरावट को रोकने में खर्च किया। इससे इन सरकारों का बजट घाटा और कर्ज बेतहाशा बढ़ गया। (देखें तालिका– **4** व **5**) अब बजट घाटे और कर्ज को सह पाने की सरकारों की अपनी–अपनी क्षमता होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार बड़े पैमाने का बजट घाटा और कर्ज सह सकती है। उसे बस डालर छाप कर बाजार में डालना होता है जिसे दुनिया भर की सरकारें मुद्रा के रूप में स्वीकार करती हैं। लेकिन यही सुविधा किसी कमजोर देश को उपलब्ध नहीं होती। वह बहुत कम वित्तीय दबाव में ही ध्वस्त हो

जायेगा। इसी समय अमेरिका व पुर्तगाल का बजट घाटा और कर्ज लगभग बराबर हैं लेकिन पुर्तगाल को यूरोपीय केन्द्रीय बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की शरण में जाना पड़ा है 'बेल आउट' के लिए जबकि अमेरिकी सरकार डालर छाप कर काम चला रही है।

संकट की इस घड़ी में इन देशों की सरकारों पर सट्टेबाज पूंजी का दबाव बहुत ज्यादा है। बहुत सारे सट्टेबाज इन सरकारों के दीवालिया होने पर दांव लगाये हुए हैं जो अपनी बारी में इन सरकारों को ट्टण उपलब्धता और इनकी प्रतिभूतियों की कीमतों पर प्रभाव डाल कर इन्हें दीवालियेपन की ओर धकेल रहे हैं। लेकिन इसका मुकाबला करने के लिए ये देश स्वतंत्र नहीं हैं। इनके हाथ–पांव यूरो क्षेत्र के नियमों से बंधे हुए हैं। इनके पावों में यूरोपीय केन्द्रीय बैंक की बेड़िया पड़ी हुयी हैं।

संकट की इस घड़ी में यूरोपीय संघ के अन्य साम्राज्यवादी देश सहायता में आने के बदले कीमत वसूल रहे हैं। वे शाइलाक की तरह व्यवहार कर रहे हैं हालांकि मामले के बढ़ने पर स्वयं इनके खतरे में पड़ने की संभावना है। उदाहरण के लिए ग्रीस के दीवालिया होने पर फ्रांस व जर्मनी पर सीधे खतरा मंडरायेगा क्योंकि इन्हीं के बैंकों का पैसा ग्रीस में लगा हुआ है।

दक्षिण यूरोपीय देशों के संकट की इस स्थिति में न केवल ये देश बल्कि इनकी हालत देखकर अन्य देश भी यूरो क्षेत्र से बाहर निकलने की सोचने लगे हैं। उन्हें यह दिख रहा है कि ये देश यूरो क्षेत्र में शामिल होने की कीमत तो चुका रहे हैं लेकिन उन्हें इसका लाभ नहीं मिल पा रहा है। यदि संकट के समय सहायता के बदले उलटा होने लगे तो निश्चित तौर पर यह बोझ बन जायेगा।

इसीलिए इस संकट के चलते यूरो मुद्रा और प्रकारांतर से यूरोपीय संघ के लिए अस्तित्व का खतरा पैदा हो गया है। संकट ने छिपे हुए अंतर्विरोधों को उजागर कर दिया है। उसने यह दिखाया है कि अलग–अलग आर्थिक स्तर के देशों को एक इकाई में बांधने से कई नये अंतर्विरोध पैदा हो जाते हैं। एक देश के भीतर असमान क्षेत्र तो तब भी चल जाते हैं। लेकिन जब किसी ऐसे समूह का गठन होता है जिसमें देशों का अपना–अपना राजनीतिक अस्तित्व होने के साथ–साथ अपनी समस्याओं के समाधान के लिए प्रमुखतः वही जिम्मेदार हों तो ऐसा समूह नहीं चल सकता।

'बेलआउट' और बाहरी सहायता के अलावा ऐसा कोई अन्य रास्ता नहीं दिखता जिससे दक्षिणी यूरोप के संकटग्रस्त देश अपने संकट के समाधान की ओर बढ़ सकें। इनकी सरकारों के दीवालिया होने का वास्तविक खतरा मौजूद है और वह कम होने के बदले बढ़ रहा है। यदि ये सरकारें दीवालिया होती हैं तो यह केवल और केवल सट्टेबाज वित्त पूंजी की करतूतों की वजह से होगा। लेकिन इसका प्रभाव केवल इन्ही तक सीमित नहीं रहेगा। यदि कुछ वित्तीय संस्थानों का दीवालिया होना समूची विश्व पूंजीवादी व्यवस्था को खतरे में डाल सकता है तो इन सरकारों का दीवालिया होना उससे कई गुना ज्यादा खतरा पैदा करेगा। तब न केवल यूरोपीय संघ टूटने–फूटने की ओर बढ़ जायेगा बल्कि समूची पूंजीवादी व्यवस्था ही रसातल में जाने लगेगी।

VI पूंजीपति वर्ग की लूट और मजदूर वर्ग का संघर्ष

इस संकट से निजात पाने के लिए पूंजीपति वर्ग ने एक ही रास्ता निकाला हैः संकट का सारा बोझ मजदूर वर्ग पर डाल देना। मजदूर वर्ग को लूट कर, उसे और ज्यादा निचोड़ कर अपने मुनाफे की भरपाई करना।

पिछले तीन दशकों की निजीकरण, उदारीकरण, वैश्वीकरण की नीतियों ने, जिन्होंने अंततः **2008** के गंभीर संकट तक पहुंचाया, पहले ही मजदूर वर्ग को बहुत बुरी स्थिति में धकेल दिया था। मजदूर वर्ग की हालत न केवल सापेक्षिक तौर पर बल्कि निरपेक्ष तौर पर भी गिर गयी थी। असमानता बहुत ज्यादा बढ़ गई थी। यह सारी दुनिया के पैमाने पर हुआ था। मजदूरों के अलावा अन्य मेहनतकशों को भी अपनी गिरती हालत का सामना करना पड़ता था।

इस संकट के दौरान पूंजीपति ने मजदूर वर्ग एवं अन्य मेहनतकशों पर अपना हमला और तेज कर दिया। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के आकलन के अनुसार इस संकट के कारण **3** करोड़ ओर लोग बेरोजगारी में तथा **10** करोड़ और लोग भूखमरी में धकेल दिये गये। संकट के कारण साम्राज्यवादी देशों में बेरोजगारी किस कदर बढ़ी है इसके आंकड़े हम पहले ही देख चुके हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है संकट के दौरान सरकारों का बढ़ा हुआ वित्तीय घाटा और कर्ज असल में धन का वित्तीय पूंजीपतियों को स्थानांतरण है, उन पूंजीपतियों को जिनकी करतूतों की वजह से यह संकट आया। यह सरकारों द्वारा समूची अर्थव्यवस्था को बचाने के नाम पर किया गया। अब सरकारें इस धन को मजदूर वर्ग से वसूल रही हैं।

अमेरिका सहित सभी सकरारें अपने यहां तथाकथित 'आस्टरिटी मीजर्स' यानी कम खर्च में जिन्दा रहने का कदम उठा रही हैं। इसका मतलब है मजदूर वर्ग और अन्य मेहनतकश जनता पर राहत खर्च में बड़े पैमाने पर कटौती। यही नहीं, वे सार्वजनिक क्षेत्र के कर्मचारियों की छंटनी व उनकी तनख्वाहों, सुविधाओं में कटौती कर रही हैं और पेन्शन पाने की उम्र सीमा बढ़ा रही हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति ओबामा ने गर्व से घोषणा की है कि वे आने वाले सालों में **40** अरब डालर की ऐतिहासिक कटौती (सामाजिक मदों पर) करने में कामयाब रहे हैं। इराक और अफगानिस्तान को तबाह कर उस पर कब्जा करने के लिए हजारों अरब डालर खर्च करने वाले साम्राज्यवादियों के लिए निश्चित ही यह गर्व की बात होगी कि वे अपने मजदूरों से यह रकम वसूलने में कामयाब रहे हैं। यहां यह तथ्य गौर करने लायक है कि **1984** से **2009** के बीच अमेरिकी लोगों ने सामाजिक मदों के लिए अपनी तनख्वाहों से जो रकम कटवाई वह उनको मिलने वाली रकम से **2** हजार अरब डालर ज्यादा है। इस रकम को अमेरिकी साम्राज्यवादी डकार गये।

इस समय अमेरिका की सभी प्रदेश सरकारें और शहरों की नगरपालिकाएं बड़े पैमाने पर बजट में कटौती करने में लगी हुयी हैं। इसमें डेमोक्रेटिक व रिपब्लिकन पार्टी का कोई भेद नहीं हैं।

यही हाल यूरोप का है। आयरलैण्ड और दक्षिणी यूरोप के देशों की सरकारों के 'बेलआउट' की तो शर्त ही यही है, अन्य सरकारें भी बिना 'बेलआउट' की जरूरत के इस काम में लगी हुयी हैं। सभी सरकारों ने यह लक्ष्य रखा है कि वे अपने बजट घाटे को **2014.15** तक **3** प्रतिशत की सीमा में ले आयेंगी।

जब सरकारों का यह हाल है तो निजी संस्थान पीछे क्यों रहें? वे भी बड़े पैमाने की छंटनी कर रहे हैं, स्थाई के बदले अस्थाई मजदूरों को काम पर रख रहे हैं और तनख्वाहें घटा रहे हैं। जब जनरल मोटर्स को अमेरिकी सरकार ने अपने हाथ में लिया तो मजदूरों की नौकरियां बचाना एक प्रमुख तर्क था। लेकिन वास्तव में क्या हुआ? वास्तव में हुआ यह कि पहले मजदूरों को नौकरी से निकाला गया और फिर उन्हीं को आधी मजदूरी पर काम पर रख लिया गया। गोल्डमान साक के खिलाफ फर्जी जिहाद छेड़ने वाला बराक ओबामा, जो असल में उसी गोल्डमान साक का गुलाम है, केवल यही कर सकता था।

वित्तीय अधिपतियों और उनकी सरकारों की इस लूट के चलते इस गंभीर संकट के दौरान भी बड़े पूंजीपतियों की संख्या और दौलत में बढ़ोत्तरी हुयी है। धनी–मानी लोगों का आंकड़ा जारी करने वाली पत्रिका फोर्ब्स के अनुसार **2011** में दुनिया में **1210** व्यक्ति है जिनकी सम्पत्ति **1** अरब डालर से ज्यादा है। इन लोगों की कुल सामूहिक सम्पत्ति **4** हजार अरब डालर है जो दुनिया के नीचे के **4** अरब

लोगों की कुल सम्पत्ति से **500** अरब डालर ज्यादा है। यहां यह याद रखना होगा कि सन् **2010** में दुनिया में कुल सालाना उत्पादन करीब **63** हजार अरब डालर का था। इन अरब पतियों में **200** ऐसे हैं जिनकी सम्पत्ति **5ण्2** अरब डालर या उससे ज्यादा है। इनमें अमेरिका के **57** व्यक्ति हैं और इसके एक तिहाई सीधे–सीधे सट्टेबाजी के धन्धे में लगे हुए लोग हैं।

यह लूट कितनी चौतरफा है इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि ब्रिक देशों में अरबपतियों की संख्या केवल एक साल में **193** से बढ़कर **301** तक हो गई। **2011** में चीन में **115**, भारत में **55**, ब्राजील में **29** अरबपति (डालर में) हैं।

जब **2008** के उत्तरार्ध में बड़े वित्तीय संस्थान एक के बाद एक धराशाई हो रहे थे तब इनके बड़े अधिकारियों की तनख्वाहों और बोनस पर खूब हो हल्ला मचा। कहा गया कि इतनी भारी–भरकम राशि हथियाकर भी इन्होंने इन संस्थानों को दीवालिया होने की ओर धकेल दिया। बराक ओबामा ने तो महीनों तक दिखावा किया कि वे इन अधिकारियों की तनख्वाहों–बोनसों में कटौती करके रहेंगे।

लेकिन हुआ क्या? कुछ नहीं। ये अधिकारी पहले की तरह लूट जारी रखे हुए हैं। फोर्ड कार कंपनी के मुख्य कार्यकारी अधिकारी ने **2010** में **2.65** करोड़ डालर तनख्वाह में और **5.65** करोड़ डालर बोनस में हासिल किया। यह कंपनी में शुरुआती औसत तनख्वाह का **910** गुना है।

और ये ही मुटियाए लोग कह रहे हैं कि मजदूरों की तनख्वाहों में कटौती की जानी चाहिए, बेरोजगार लोगों के भत्तों में कटौती की जानी चाहिए, भूखमरी के शिकार लोगों के फूड कूपन में कटौती की जानी चाहिए इत्यादि। इनकी मुनाफे की हवस इन्हें इसी ओर ले जा सकती है। यहां यह याद रखना होगा कि **1930** के दशक की महामंदी के दौर में भी पूंजीवाद की रक्षा करने वाले रूजवेल्ट को अपने 'न्यू डील' को, जो आधे–अधूरे 'कल्याणकारी' राहत कदमों का समुच्चय था, लागू करवाने में काफी मशक्कत करनी पड़ी और थोड़ा सुधार दीखते ही उसे अधर में छोड़ दिया गया। द्वितीय विश्व युद्व के बाद समाजवाद के खतरे से भयभीत पूंजीपति वर्ग ने ही फिर इस दिशा में आगे कदम बढ़ाये।

मजदूरों को और ज्यादा निचोड़ने का क्या परिणाम निकला इसका एक बयान अंग्रेजी इजारेदार पूंजीपतियों की पत्रिका 'इकनामिस्ट' ने किया है। अपने **24** मार्च **2011** के अंक में यह पत्रिका लिखती है :

> शासन करने वालों ने वित्तीय और मौद्रिक प्रोत्साहनों के रूप में स्तब्ध और आश्चर्यचकित कर देने वाली नीति अपनाई है। उन्होंने वित्तीय क्षेत्र को पूरी तरह ध्वस्त हो जाने से रोका है–बैंकपतियों की स्थिति निश्चित तौर पर ठीक–ठाक बनी हुयी है। कारपोरेट क्षेत्र भी ठीक ठाक चल रहा है ... ... लेकिन आर्थिक उभार का सारा फायदा मजदूरों के बदले लगभग पूर्णतया पूंजी के मालिकों को होता दीख रहा है। अमेरिका में आर्थिक उभार शुरू होने के बाद वास्तविक मजदूरी में करीब **168** अरब डालर की वृद्वि हुयी लेकिन मुनाफे में **528** अरब डालर की वृद्वि ने इसे काफी पीछे छोड़ दिया। बीसीए रिसर्च के धवल जोशी का कहना है कि पिछले पचास सालों में यह पहली बार हुआ है कि मुनाफे ने निरपेक्ष मात्रा में मजदूरी को पीछे छोड़ा हो।
>
> जर्मनी में आर्थिक उभार की शुरुआत से अभी तक मुनाफे में **113** अरब यूरो (**159** अरब डालर) की वृद्वि हुयी है जबकि कर्मचारियों की तनख्वाहों में महज **36** अरब यूरो की। ब्रिटेन का तो और भी बुरा हाल है जहां मुनाफे में **14** अरब पाउण्ड (**22ण्7** अरब डालर) की वृद्वि हुयी है जबकि कुल वास्तविक मजदूरी में **2** अरब पाउण्ड की गिरावट आई है। ... ... समस्त ओ ई सी डी क्षेत्र में **1980** से मजदूरी के हिस्से में गिरावट हो रही है। यह खाई खासकर अमेरिका में दृष्टव्य है : **1973** से **2007** के बीच उत्पादकता में **83** प्रतिशत की वृद्वि हुयी लेकिन पुरुषों की औसत वास्तविक मजदूरी में महज **5** प्रतिशत की वृद्वि हुयी।[य]

लेकिन मजदूर वर्ग भी अपने को और ज्यादा निचोड़े जाने को यूं ही नहीं ले रहा है। अमेरिका में इनके खिलाफ मजदूरों के प्रतिरोध की शुरुआत हो गई है जिसका सबसे शानदार उदाहरण विंसकोसिन के मजदूरों ने पेश किया। एक के बाद एक प्रांत और शहर में सरकारी और निजी क्षेत्र के मजदूर सड़क पर उतर रहे हैं। इनमें उम्र दराज मजदूर हैं तो नौजवान भी, शारीरिक श्रम करने वाले हैं तो मानसिक श्रम करने वाले भी।

यूरोप में पिछले दशक भर से ही मजदूर समय–समय पर उदारीकरण के खिलाफ बड़े–बड़े प्रदर्शन करते रहे हैं। लेकिन वर्तमान संकट के फूटने के बाद इनकी बाढ़ आ गई है। और अब जब सरकारों ने 'आस्टरिटी' की घोषणा की है तो मजदूरों ने भी इसके जवाब में संघर्ष की घोषणा कर दी है। आयरलैण्ड, ग्रीस, पुर्तगाल और स्पेन सभी जगह हर दो–तीन–चार महीनों में बड़े–बड़े राष्ट्रव्यापी प्रदर्शन हो रहे हैं। यह विरोध प्रदर्शन इटली और ांस में भी हैं। इसी की कड़ी में आइसलैण्ड के मजदूरों ने दो बार आसलैण्ड सरकार का वह प्रस्ताव नकार दिया जिसमें ब्रिटिश और डच कर्जों की अदायगी करने की बात की गयी थी। ये कर्जे एक आइसलैण्ड के बैक के ऊपर हैं जिसका सरकार ने अधिग्रहण किया था।

विरोध की एक यूरोपव्यापी लहर मई में उठ खड़ी हुयी। स्पेन, ग्रीस और इटली में न केवल लाखों के विरोध प्रदर्शन हुए बल्कि इन देशों में नवयुवकों और मजदूरों ने शहरों के चौक पर डेरा डाल दिया। मिश्र की राजधानी काहिरा के तहरीर चौक ने उन्हें इसके लिए प्रेरणा दी। स्पेन की राजधानी मैड्रिड सहित करीब **165** शहरों में चौक पर यह डेरा चार हफ्ते रहा : **15** मई से **12** जून तक। बाद में ये बस्तियों के पास आम सभा के रूप में स्थानांतरित हो गया।

29 मई को यूरोपव्यापी प्रदर्शन के बाद इसके विस्तार और व्यवस्था विरोधी तेवरों को देखते हुए बहुतों ने 'यूरोपीय क्रांति' की बात शुरू कर दी। इन विरोध प्रदर्शनों की धार मुख्यतः उदारीकरण की नीतियों, भ्रष्ट–पतित पूंजीवादी राजनीतिक पार्टियों और उनके शासन की ओर है। इनके भ्रष्ट जनतंत्र के मुकाबले प्रदर्शनकारी युवक और मजदूर 'असली जनतंत्र' की मांग कर रहे हैं। यह 'असली जनतंत्र' बैकपतियों और दूसरे धन्नासेठों का नहीं होगा, वह बेरोजगारी को खत्म कर जनता के लिए जीने लायक जीवन सुनिश्चित करेगा और इसमें जनता की वास्तविक भागीदारी होगी।

यूरोप व्यापी पैमाने पर विरोध प्रदर्शनों का यह विस्फोट और 'क्रांति' की बातें तथा 'असली जनतंत्र' की मांग यह दिखाती है कि वर्तमान पूंजीवाद के खिलाफ आम तौर पर तथा पिछले तीन दशकों की उदारीकरण की नीतियों के खिलाफ खासतौर पर मजदूरों और व्यापक मेहनतकश जनता में संचित होता गुस्सा अब फूट रहा है और व्यापक पैमाने के विरोध प्रदर्शनों को जन्म दे रहा है। बहुत संभावना है कि हजारों–लाखों लोगों के ये विरोध प्रदर्शन और जमावड़े विद्रोह का रूप धारण कर लें।

अरब के जन विद्रोह का भी व्यापक संदर्भ उदारीकरण की नीतियां और वर्तमान संकट है। मिश्र में बेरोजगारी की सरकारी दर **9** प्रतिशत और ट्यूनीशिया में **14** प्रतिशत है। मिश्र में मंहगाई की दर पिछले सालों में **10** प्रतिशत से ज्यादा रही है। लीबिया, सीरिया से लेकर सभी देशों में पिदले दशकों में उदारीकरण की नीतियां लागू की गयी हैं। वर्तमान संकट ने वहां आग में घी का ही काम किया है।

2008 में खाद्य पदार्थों के दाम बढ़ने पर **40** से ज्यादा देशों में खाद्य दंगे हुए थे। एक बार फिर खाद्य पदार्थों के दाम बढ़ रहे हैं। इस आम खराब हालत और वर्तमान संकट से जोड़ दिया जाय तो सहज ही वह स्थिति उभर कर आ जाती है जो मिश्र व ट्यूनीशिया की ओर ले जाती है।

VII अंत में

ऊपरी तौर पर आशावान दिखते हुए भी दुनिया का पूंजीपति वर्ग बहुत आश्वस्त नहीं है। यही नहीं, भीतर ही भीतर वह बहुत आशंकित है। उसकी इस आशंका को संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपनी रिपोर्ट में अभिव्यक्त किया है। इसने एक निराशाजनक संभावना को प्रस्तुत किया है जो नीचे की तालिका से स्पष्ट है :

तालिका – 11

विश्व अर्थव्यवस्था की निराशाजनक संभावना (वृद्वि दर प्रतिशत में)

	आधाारभूत आकलन		निराशजनक आकलन	
	2011	2012	2011	2012
वैश्विक वृद्वि दर	3.1	3.5	1.7	2.3
विकसित देश	1.9	2.3	0.1	1.1
संक्रमणशील देश	4.0	4.2	3.6	3.5
विकसशील देश	6.0	6.1	5.3	5.1
सबसे कम विकसित देश	5.5	5.7	5.3	5.2
विश्व व्यापार	6.6	6.5	5.1	4.5

स्त्रोत : वही तालिका बाक्स 1.4 से

यदि यह निराशाजनक संभावना ही वास्तविकता बनती है तब वैश्विक अर्थव्यवस्था निश्चित तौर पर एक भिन्न दिशा में मुड़ जायेगी। तब विकासशील देशों की ऊपरी तौर पर दीखने वाली अच्छी–खासी विकास दर भी हवा हो जायगी। लेकिन तब यह भी होगा कि दुनिया और ज्यादा उथल–पुथल की ओर बढ़ जायगी। तब अरब जगत के वर्तमान जन विद्रोह बहुत फीके लगने लगेंगे।

.....